श्री अरविन्द

द्वारा रचित

महर्षि दयानन्द

दयाया आनन्दो विलसति परस्स्वात्मविदितः
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्य शरणा।
तदाख्यार्तियस्य प्रकटित गुणा राष्ट्रि परमा,
सको दान्तः शान्तो विदित विदितो वेद्य विदितः।।

– संकलित

श्री अरविन्द चेतना समाज

द्वितीय संस्करण

अंग्रेजी वैदिक मैगज़ीन 1915 ओर 1916 से
पं० जगन्नाथ वेदालंकार द्वारा अनूदित

© श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट 1983
सर्वाधिकार सुरक्षित

लोकहितार्थ पुनर्मुद्रण–

श्री अरविन्द चेतना समाज
(पंजीकृत शिक्षात्मक न्यास)
6562/9 चमेलियान रोड
दिल्ली-110006 (भारत)

सहयोग राशि 15/- रुपये
विदेश में $1.50

इस पुस्तक के किसी भी अंश या सम्पूर्ण का प्रकाशन अथवा उद्धरण श्री अरविन्दश्रम पाण्डिचेरी की पूर्वानुमति से ही किया जा सकता है।

महर्षि दयानन्द पर
श्री अरविन्द की अभिव्यक्ति के विषय में –

किसी भी दिशा और किसी भी दृष्टिकोण से आप सोचें, भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं वैचारिक पुनरुत्थान के प्रथमतम एवं महानतम मसीहा और देवदूत महर्षि दयानन्द ही सिद्ध होते हैं। उनकी विचारशैली एवं तर्क-प्रणाली से आपकी कितनी भी अस्वीकृति हो परन्तु भारत की प्राचीनतम मनीषा के एकमात्र मूल व एकमात्र सर्वस्वीकृत स्रोत दिव्यग्रन्थ वेदों को स्मृति की तलविहीन धृष्ट दलदल से निकालकर उच्चतम समादर के श्रेष्ठतम सिंहासन पर बैठा देने का काम महर्षि दयानन्द ने ही किया।

महाभारत के बाद विकृत से विकृततर होते चले जाने वाले वेदार्थो के कारण भाँति-भाँति के वेद-मन्तव्य विरोधी मत-सिद्धान्त भारतीय समाज में प्रचलित होते चले गए जिनमें स्त्रियों व शूद्रों के साथ अत्यन्त घृणित व दुष्ट व्यवहार तथा अत्यन्त धर्म हानिकर पशु-बलियों व नरबलियों तक का प्रचार व व्यवहार अत्यन्त सहज और सामान्य बना दिया गया था। स्त्रियों के महत् सम्मान के पोषक व प्रसारक वेद, स्त्रियों पर अत्याचार का विधि शास्त्र बना दिए गए तथा कला-संस्कृति और सरस्वती के अभिव्यंजन व प्रस्तावक एवं सभी वर्णों के श्रम, कृषि, भोजन, पाकशाला एवं विभिन्न सामाजिक कार्यों को समाज हित सम्पन्न करने वाले जन अस्पृश्य, अन्त्यज व दलित बनाकर नरक को भी लज्जित करने वाले व्यवहार के पात्र घोषित कर दिए गए। वैदिक धर्म में प्रविष्ट हो गए इन दुष्टतापूर्ण कार्यों के कारण जैन व बौद्ध जैसे नास्तिक, निर्वाणवादी व कैवल्यवादी तथा इस पार्थिव भूमि के विरोधी सम्प्रदायों को पनपने व विस्तृत होने का अवसर मिला और इन कर्मकाण्ड के आलोचक धर्मों के कारण वेद पढ़ना व वेद रखना तक अपराध की तरह समझा जाने लगा। ब्राह्मणों की क्रूरतापूर्ण व लोक-विलासिता से सिक्त अमानवीय अपसंस्कृति से ऊबे लोग जैन-बौद्धों की करुणा व सरल और शीघ्र स्वीकार्य सिद्धान्तों की ओर आकर्षित होकर वेद, वेदों की गरिमा एवं उनके द्वारा पार्थिव जीवन के विकासार्थ प्रस्तुत वेदों की समस्त परियोजनों और आदेशों को भूल गए।

महर्षि दयानन्द ने इतने बड़े ऐतिहासिक काल के वेद विरोधी दुष्चक्र की अत्यन्त तीव्र और मरणान्तक अपगति को अत्यन्त साहस और मनस्विता के साथ पुनः उसकी वेदपक्षी प्रगतिपूर्ण दिशा की ओर मोड़ दिया। महर्षि दयानन्द के कटु आलोचक तक भी अखण्ड ब्रह्मचर्य की ओजस्विता से आपाद-मस्तक परिपूर्ण पगे

हुए महर्षि की अत्यन्त प्रेरणादायी जीवनकथा से प्रभावित और मर्मस्पर्शित हुए बिना नहीं रह सकते। अस्खलित पूर्ण समर्पण, पूरी तरह स्वार्थहीन प्रभुभक्ति, प्रभु के स्व-शब्दों के संग्रह के रूप में वेदों में परम आस्था के तीव्र आलोक का सबल आधार लेकर महर्षि ने विश्व मानव के फैले हुए करों पर वेदों की सर्वकामना प्रदायक चिन्तामणि रखकर जो भारत का ओर विश्व का उपकार किया है वह अवर्णनीय है, अकथनीय और अत्यन्त गुरुतर है, उससे इनकार नहीं जा सकता।

योगीराज श्री अरविन्द ने वेदों के मर्म और रहस्य को तीव्र साधना के बल पर एवं गहन परन्तु पुनःपुनः स्वपरीक्षित आत्मानुभूतियों के आधार पर उद्घाटित किया। तर्क, बुद्धि और सहज ज्ञान के आधार पर सामान्य जनता के लिये विशेष रूप से प्रस्तुत महर्षि दयानन्द के वेदार्थों के पश्चात् योगेश्वर श्री अरविन्द ने साधना-शक्य गुप्त ज्ञान, रहस्य विद्या, वैदिक तन्त्र एवं मानसोपरि विज्ञानयुक्त महर्विद्या के आधार पर वेदों के नवीन अर्थ और मन्तव्य प्रस्तुत किए जो शुद्ध मन के विद्वानों और मनीषियों को महर्षि दयानन्द के परिपूरक, उनके वेदार्थ को आगे बढ़ाने वाले ही महसूस होते हैं। वस्तुतः श्री अरविन्द महर्षि के सम्पूरक ही हैं।

गणपति मुनि, कापाली शास्त्री, श्रीपाददामोदर सातवलेकर आदि सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान एवं डेविड फ्राउलि आदि जैसे अनेकों पाश्चात्य विज्ञानों को प्रेरणा प्रदान करने वाले वैदिक ग्रंथ ''हिम टु द' मिस्टिक फायर एवं 'सीक्रेट आफ द वेद'' तथा वैदिक ज्ञान से ओत-प्रोत महर्षि दयानन्द के व्यक्तित्त्व व कर्त्तृत्व पर श्री अरविन्द ने जो दो निबन्ध लिखे थे वे आज भी महर्षि दयानन्द पर लिखे गए सर्वश्रेष्ठ आलेखन जाने जाते हैं। आर्यसमाजी विद्वान श्री अरविन्द के इन महत्त्वपूर्ण व ओजस्वी प्रलेखों को प्रायः ही समुचित प्रसंगों पर सदा प्रयुक्त करते हैं।

बहुत समय से आश्रम पाण्डिचेरी के प्रकाशन केन्द्र से यह पुस्तक प्राप्य नहीं थी। अतः इसकी अत्यन्त माँग एवं सामयिक उपयोगिता को देखते हुए श्री अरविन्द चेतना समाज की ओर से इसे पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। इस पुस्तिका को जितनी बार भी पढ़ा जाये यह उतनी बार ही नए ओर व्यापकतर अर्थों से पाठक को आप्लावित करती है। वेदों से पुष्पित-पल्लिवत पुरातन भारत और वेदों की तरफ बढ़ते नए भारत की मध्य रेखा पर समस्थित महर्षि दयानन्द के प्रति श्री अरविन्द के ये उद्गार जन-जन के हृदय के सतत् स्मरणीय ज्ञानस्रोत बन जाएँ इस कामना के साथ लोकार्थ समर्पित–

ज्ञानचन्द्र

श्री अरविन्द चेतना समाज

महर्षि दयानन्द

१

उनका व्यक्तित्व और कार्य

भारत की भावी संतति को अनेक लोकोत्तर महापुरुष भारतीय नव- जागरण के शिखर पर दिखायी देंगे। उनकी महामण्डली में एक व्यक्ति अपनी अनूठी और अनुपम विशेषता के कारण औरों से स्पष्ट जुदा दीख पड़ता है—अपने ढंग का अनोखा और अपने काम में भी औरों से निराला। यह ऐसा लगता है जैसे कोई बहुत समय तक एक कम या अधिक ऊंची पर्वत-शृंखला के बीच घूमता रहे जो दूर तक एक विशाल परिधिवाली और हरी-भरी हो और अपनी गगनचुंबी एवं आकर्षक ऊँचाई के होते हुए भी नयनाभिराम हो, किन्तु उस शृंखला के बीच एक पर्वत उसे एकदम अलग-थलग दिखाई दे। उसी प्रकार ऋषि दयानन्द ऐसे दिखाई देते हैं, मानो निरा बल ही मूर्तिमान् होकर पहाड़ के रूप में खड़ा हो गया है, नग्न और सुदृढ़ ठोस चट्टान का पुंज, विशाल और उत्तुङ्ग। इसकी हरी-भरी चोटी पर खड़ा सनोवर का वृक्ष आकाश से बातें कर रहा है, शुद्ध, प्राणदायी और उर्वरक जल का एक सुविशाल जलप्रपात मानों उसके इस शक्ति-पुंज में से ही फूट-फूट कर निकल रहा है जो इस सारी घाटी के लिए पानी का ही क्या, स्वयं स्वास्थ्य और जीवन का भी झरना है। यह है वह छाप जो मेरे मन पर दयानन्द के व्यक्तित्व की पड़ती है।

इस महाशक्तिशाली पुनरुद्धारक और नव-निर्माता का जन्म काठियावाड़ की भूमि में हुआ था। उस विशाल भूमि की प्रकृति का, उसकी आत्मा का ही कुछ अंश इसकी आत्मा में प्रविष्ट हो गया था, गिरनार का, उसकी चट्टानों और पहाड़

का कुछ अंश, उस समुद्र की शक्ति और गर्जन का भी कुछ अंश जो घहराता हुआ इस प्रदेश के किनारों पर टकराता है। इसके साथ ही वहां की मानवता का भी कुछ अंश इसकी आत्मा में प्रविष्ट हो गया था। वहां की मानवता को प्रकृति-देवी ने अपने अकलुषित और विशुद्ध तत्त्व से बनाया दीखता है। वह शरीर से सुन्दर और बलिष्ठ है, नई-ताजी प्राणशक्ति से उज्जीवित है, अविकसित प्रकृतिवाले पुरुष में वह अपरिपक्व अवस्था में है पर जो विकसित प्रकृतिवाले पुरुष में भव्य-निर्माण की महाशक्ति बनने की क्षमता रखती है।

जब मैं दयानन्द के विषय में अपनी भावना को अपने सामने चित्रित करने की कोशिश करता हूँ और मुझ पर उसकी जो छाप पड़ी है उसे ठीक-ठीक रूप देने की चेष्टा करता हूँ तो प्रारम्भ में इस पुरुष के, इसके जीवन और कार्य के दो महान्, सुस्पष्ट और विलक्षण गुण मेरे सामने आ खड़े होते हैं। वे गुण इसे अपने समकालीनों और साथियों से बिलकुल अनूठा ही प्रदर्शित करते हैं। अन्य महान् भारतीयों ने अपने आपको जाति के आध्यात्मिक उपादान में उँडलेकर आज के भारत के बनाने में सहायता दी है। उन्होंने अनिश्चित-स्वरूपवाले चलायमान द्रव्य में अपनी आध्यात्मिकता को ढाला। वह द्रव्य एक दिन स्थिररूप धारण करेगा और प्रकृति के एक महान् दृश्य जन्म के रूप में सामने आयेगा। उन्होंने एक प्रकार का खमीर डाल दिया, आकाररहित हलचल और संक्षोभ की एक शक्ति दे दी जिसमें आकारों का प्रकट होना आवश्यक था। वे ऐसी महान् आत्माओं और महाप्रभावशाली व्यक्तियों के रूप में स्मरण किये जायेंगे जो भारत की आत्मा में निवास करते हैं। वे हमारे अन्दर हैं और उनके बिना निःसंदेह हम वह न होते जो आज हम हैं। परन्तु किसी ठीक-ठीक आकार को लेकर यह नहीं कहा जा सकता है कि यह है जो उस मनुष्य का उद्देश्य था, यह कह सकना तो दूर रहा कि यह आकार ही उस आत्मा का ठीक मूर्त्त-रूप है।

इस विलक्षण कार्य के असली नमूने के तौर पर जो बृहत् और जटिल रचना के समय नितान्त आवश्यक होता है मेरे मन के सामने महादेव गोविन्द रानाडे का

दृष्टान्त आ उपस्थित होता है। यदि कोई विदेशी हमसे पूछे कि इन महाराष्ट्रीय अर्थशास्त्री, सुधारक और देशभक्त ने वह कौन सा विशेष कार्य किया है जिसके कारण तुम उन्हें अपनी स्मृति में इतना ँचा स्थान देते हो तो हमें उत्तर देने में कुछ कठिनाई प्रतीत होगी। हमें एक विशेष मानव-समुदाय के उन कार्यों की तरफ संकेत करना पड़ेगा जिनमें रानाडे की आत्मा और विचार एक अमूर्त्त निर्माता के रूप में विद्यमान है, हमें आज के भारत के उन महान् व्यक्तियों की तरफ इशारा करना पड़ेगा जिन्होंने इनकी आत्मा में आये प्राण को ग्रहण किया है और अन्त में हमें पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न के रूप में ही देना होगा, "भला, महादेव गोविन्द रानाडे के बिना आज का महाराष्ट्र क्या होता और महाराष्ट्र के बिना आज का भारत ही क्या होता ? परन्तु जो महान् व्यक्ति, वस्तुओं और मनुष्यों पर प्रभाव डालने में इन-जैसे आकाररहित नहीं थे और जो प्रसरणशील भी थे उनके विषय में तथा उन कार्यकताओं के विषय में भी जिनकी शक्ति और कार्य अधिक स्पष्ट थे, मेरे मन पर मूलतः यही छाप पड़ती है।

यदि शक्ति की कोई आत्मा हो सकती है तो विवेकानन्द शक्ति की आत्मा ही थे, वे मनुष्यों के बीच साक्षात् सिंह थे, पर जो कुछ निश्चित कार्य वे पीछे छोड़ गये है वह उसकी तुलना में बहुत ही कम है जिसकी छाप उनकी रचना करने की शक्ति और सामर्थ्य के बल पर हमारे ऊपर पड़ी हुई है। हम उनके प्रभाव को अब भी बहुत बड़ी मात्रा में काम करता हुआ अनुभव करते हैं, हम अच्छी तरह नहीं जानते कि कैसे और कहां, किन्तु किसी वस्तु में जो अभी तक आकार में नहीं आई, कुछ सिंह सदृश महान् अन्तःप्रेरक ऊपर उठानेवाला प्रभाव अनुभूत होता है जो भारत की आत्मा में प्रविष्ट हो गया है और हम कहते हैं, "देखो, विवेकानन्द अपनी माता की आत्मा में, उनके पुत्रों की आत्माओं में अभी तक जीवित है।" यही बात सब महापुरुषों के विषय में है। न केवल ये पुरुष अपने निर्धारित कार्यों की अपेक्षा अधिक महान् थे, किन्तु इनका प्रभाव भी इतना विस्तृत और अगोचर था कि जो कोई ठोस कार्य ये अपने पीछे छोड़ गये है उसके साथ इसका कोई

विशेष संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता।

महर्षि दयानन्द की कर्मशैली बिल्कुल भिन्न थी। वे ऐसे मानव थे जिन्होंने अपने आपको वस्तुओं की अनिर्धारित आत्मा में आकाररहित तौर पर नहीं उँडेला था बल्कि वस्तुओं और मनुष्यों पर अपनी आकृति की ऐसी अमिट छाप लगा दी थी जैसे पीतल में मुहर लगा दी हो। वे ऐसे पुरुष थे जिनके साकार कार्य उनके आत्मिक शरीर से जन्मे उनके पुत्र ही थे,–सुन्दर और बलिष्ठ तथा प्राण से परिपूर्ण, अपने जन्मदाता की हूबहू प्रतिच्छवि। वे ऐसे व्यक्ति थे जो निश्चित तौर पर और साफ-साफ जानते थे कि उन्हें क्या कार्य करने के लिए यहाँ भेजा गया है। उन्होंने आत्मा की प्रभुत्वपूर्ण दृष्टि से अपनी साधन-सामग्री का चुनाव और कार्य की अवस्थाओं का निर्धारण किया और फिर अपने संकल्पित विचार को जन्मसिद्ध कार्यकर्त्ता की प्रबल, सिद्धहस्त दक्षता के साथ कार्यरूप में परिणत किया। जब मैं परमेश्वर के कारखाने के इस दुर्दम कारीगर की मूर्त्ति का ध्यान करता हूँ तो मेरे सामने झुण्ड के झुण्ड चित्र आने लगते हैं जो सब-के-सब संग्राम के, कर्म के, विजय के, सफलतापूर्ण प्रयास के चित्र होते हैं। तब मैं अपने-आपको कहता हूँ यह है दिव्य-प्रकाश का सैनिक, परमेश्वर के जगत् का योद्धा, मनुष्यों और संस्थाओं को बनानेवाला शिल्पकार और प्रकृति आत्मा के सम्मुख जो कठिनाइयां उपस्थित करती है उनका निर्भीक और अदम्य विजेता। यदि साररूप में कहूं तो इस सब की जो जबर्दस्त छाप मुझ पर पड़ती है वह है आध्यात्मिक क्रियात्मकता की। आध्यात्मिकता और क्रियात्मकता ये दो शब्द आमतौर पर हमारी परिकल्पनाओं में एक-दूसरे से अत्यन्त विपरीत समझे जाते हैं। इन दोनों शब्दों को मिलाकर प्रयुक्त करना मुझे महर्षि दयानन्द की सही परिभाषा प्रतीत होती है।

उन्होंने जो काम किया उसका वास्तविक स्वरूप क्या था इसे यदि हम विचार में न लायें तो भी केवल यह तथ्य ही कि उन्होंने इसी भाव से और इसी प्रयोजन से काम लिया, उन्हें हमारे महान् संस्थापकों में अद्वितीय स्थान प्राप्त करा देता

है। उन्होंने प्राचीन आर्य-तत्त्व को राष्ट्रीय चरित्र में फिर से स्थापित किया। यह तत्त्व हमें महर्षि दयानन्द की वह विशेषता बतला देता है जो मेरी दृष्टि में उन्हें अन्यों से भिन्न करने वाला उनका दूसरा विशेष गुण है। यह दूसरा गुण पहले का रहस्य है। हम अन्य लोग प्रभावों की एक धारा में रहते हैं, इन प्रभावों को अपने अन्दर आने देते हैं। इससे कुछ वस्तु आकार ग्रहण करती है और उसमें से थोड़ा-सा कार्य भी सम्पन्न होता है पर शेष सब प्रभाव बिखर जाता है और फिर से प्रभाव-धारा में चला जाता है। हमें कौन-सी दिशा ग्रहण करनी है इस विषय में हमारी मति स्थिर नहीं होती, अतः जो अवस्थाएं और परिस्थितियां हमारे सामने आती हैं, हम अपने-आपको जैसे-तैसे उनके अनुकूल ही बना लेते हैं। जब कभी हम किसी अवसर पर समझौता न करने की लड़ाकू-वृत्ति धारण करने को उद्यत होते हैं तब भी हम वास्तव में अस्थिर और अवसरवादी ही होते हैं। महर्षि दयानन्द के अन्दर जो कुछ भी प्रविष्ट हुआ उस सबको उन्होंने अपने अधिकार में कर लिया, अपने अन्दर धारण किया, उसे सिद्धहस्तता के साथ वह आकार दे डाला जो उन्होंने उचित समझा और फिर उसे बाहर के वायुमण्डल में उन आकारों में स्थापित कर दिया जो उन्होंने उसके लिए उचित समझे। महर्षि दयानन्द में हमें जो लड़ाकापन और आक्रामकपन लगता है वह उनके आत्मनिर्धारण के बल का ही भाग था।

वे न केवल प्रकृति के महान् हाथों के प्रति स्वयं नमनशील थे, अपितु उन्होंने जीवन और प्रकृति को भी नमनशील सामग्री के रूप में प्रयुक्त करने के अपने सामर्थ्य और अधिकार की दृढ़तापूर्ण स्थापना की थी। हम कल्पना कर सकते हैं कि हमारे अन्दर पौरुष और कर्म के स्रोत को अपर्याप्त देखकर उनकी आत्मा आज भी पुकार-पुकारकर कह रही है, "हे भारतीयों ! केवल अनन्तता के भाव में निवास करने और अनिश्चित रूप से विकास करने से संतुष्ट मत होओ किन्तु यह भी देखो कि परमेश्वर तुम्हें क्या बनाना चाहते हैं और उनकी प्रेरणा के प्रकाश में निर्धारित करो कि आगे तुम्हें क्या बनना है। उसे देखते हुए उसके अनुसार

अपने-आप को गढ़ो, उसे जीवन में से गढ़कर तैयार करो। विचारक बनो, पर साथ ही कर्मठ भी बनो। आत्मा बनो, पर साथ ही मनुष्य भी बनो, परमेश्वर के सेवक बनो पर साथ ही प्रकृति के स्वामी भी बनो।'' क्योंकि वे स्वयं यही कुछ थे, वे वह मनुष्य थे जिसकी आत्मा में परमेश्वर था, जिसकी आंखों में दिव्य दृष्टि थी और जिसके हाथों में उस दिव्यदृष्टि के अनुसार जीवन में से आकृतियां गढ़ देने की शक्ति थी। यहाँ 'घड़ना' शब्द का प्रयोग ही उपयुक्त है। क्योंकि वे स्वयं चट्टान थे और उन्होंने मानों चट्टान पर भारी चोटें मार-मारकर वस्तुओं की आकृति घड़ी थी। महर्षि दयानन्द के जीवन में हमें हमेशा आध्यात्मिक व्यावहारिकता का शक्तिशाली प्रवाह दिखायी देता है। सर्वत्र उनके काम पर स्वतः स्फूर्त शक्ति और निश्चयात्मकता की छाप है। प्रारम्भ में ही हम देखते हैं–व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि की यह कितनी दिव्य झांकी है कि वे फिर से सीधे भारतीय जीवन और संस्कृति के ठेठ मूल तक पहुंचे ओर उसके आमूल नवीन जन्म के लिए उन्होंने उसके सबसे पहले निकले फूल से बीज प्राप्त किया ओर यह कैसे' महान् बौद्धिक साहस का कार्य था कि उन्होंने इस धर्मग्रन्थ वेद का उद्धार किया जो अज्ञान-भरे भाष्यों से विकृत हो चुका था, जिसका असली अभिप्राय भुलाया जा चुका था और जिसे लोग गलतफहमी के कारण अपने दर्जे से घटाकर पुरानी जङ्गली जातियों के लेखों के बराबर समझने लगे थे। उन्होंने वेद की यह वास्तविक श्रेष्ठता पहचानी कि यह वह धर्मग्रन्थ है जिसमें इस देश और प्राचीन राष्ट्र को बनाने वाले पूर्वजों की गहरी और प्रबल भावना छिपी है, वह धर्मग्रन्थ जो दिव्य ज्ञान, दिव्य पूजा और दिव्य कर्म की चर्चा से ओत-प्रोत है।

मैं नहीं जानता कि महर्षि दयानन्द का ओजस्वी और मौलिक भाष्य वेद पर प्रामाणिक शब्द के रूप में सर्वमान्य होगा या नहीं। मैं स्वयं सोचता हूँ कि इस अगाध और आश्चर्यजनक ईश्वरीय ज्ञान (वेद) के अन्य रूपों का स्पष्टीकरण करने का कुछ सूक्ष्म कार्य अब भी शेष है लेकिन इसका बहुत महत्त्व नहीं। मुख्य बात तो यह है कि उन्होंने वेद को भारत की युगों से चली आ रही चट्टान के रूप

में ठीक-ठीक ग्रहण कर लिया और उसमें अपनी सूक्ष्मदर्शी दृष्टि द्वारा यौवन की सम्पूर्ण शिक्षा या समग्र मनुष्यता और सम्पूर्ण राष्ट्रीयता को देखकर इस चट्टान पर इनका भवन बनाने का साहसपूर्ण विचार किया। एक अन्य महान् आत्मा और शक्तिशाली कार्यकर्त्ता राममोहन राय ने बंगाल के नव-जागरण का कार्य अपने हाथ में लिया। बंगाल तब सरिताओं और धान के खेतों के किनारे गहरी नींद में सोया पड़ा था। उन्होंने उसे घोर प्रमादभरी निद्रा से झकझोर कर जगाया और कितने महान् ध्येय तक पहुँचा दिया। पर राममोहनराय थोड़ी दूर चलकर उपनिषदों पर ही रुक गये, महर्षि दयानन्द ने उनसे परे तक देखा और यह पहचाना कि हमारा वास्तविक मूलभूत बीज है वेद। उनके अन्दर राष्ट्रीय सहज-बोध था और वे इसे आलोकित करने में अर्थात् इसे सहजबोध के स्थान पर बोधि एवं अन्तर्दृष्टि बनाने में समर्थ हुए। इसलिए उससे जो रचनाएं सृष्ट हुई हैं वे चाहे प्रचलित परम्पराओं के कितनी ही विरुद्ध क्यों न हों, निःसन्देह गहरे रूप से राष्ट्रीय है।

राष्ट्रीय होने का अभिप्राय एक स्थान पर रुक जाना नहीं, बल्कि अतीत की संजीवनी शक्ति ग्रहण करके उसे वर्तमान जीवन की धारा में उँडेल देना ही वास्तव में पुनरुद्धार और नवनिर्माण का सबसे अधिक शक्तिशाली उपाय है। वर्तमान सांचे में जीवन भरने के लिए महर्षि दयानन्द अपने कार्य से भूत के इस प्रकार के तत्त्व और भावना को पुनरुज्जीवित करते हैं। हम देखते हैं कि उन्होंने अपने जीवन की तरह अपने कार्य में भी उस भूत को ग्रहण कर रखा है जो निर्मल शक्ति का प्रथम प्रवाह है, अपने आदिस्रोतों से सीधा आने के कारण पवित्र है। अपने मूलभूत नियम के निकट है और इसीलिए नित्य-नूतन हो सकने योग्य किसी शाश्वत तत्त्व के भी अत्यन्त समीप है।

उनके व्यक्तित्त्व की भांति उनके कृतित्व में भी हम स्वतःस्फूर्त निश्चित प्रयत्न और प्रबल रचना की वह शक्ति पाते हैं जो पूर्ण स्पष्टता, सत्य और ईमानदारी के आन्तरिक तत्त्व से आती है। किसी व्यक्ति का अपने मन में साफ होना, अपने प्रति और दूसरों के साथ पूर्णतया सच्चा और सरल होना और अपने

कार्य की परिस्थितियों तथा साधनों के साथ पूरे तौर से ईमानदार होना यह हमारी टेढ़ी पेचीदी और लड़खड़ाने वाली मनुष्य जाति में एक दुर्लभ देन है। आर्य कार्यकर्त्ता की यही भावना होती है और यही है तेजोमय सफलता पाने का निश्चित रहस्य। कारण, प्रकृति अपने द्वारों पर ठीक, सच्ची और पहचानने योग्य खटखटाहट को सदा ही पहचान लेती है और अनुरूप सजगता तथा प्रयत्न के साथ उसका उत्तर भी देती है। यह उचित ही है कि उस आचार्य की आत्मा अपने अनुयायियों पर अपना चिह्न छोड़ जाये और भारत में किसी स्थान पर ऐसी संस्था विद्यमान हो जिसके बारे में यह कहा जा सके कि जब कभी कोई ऐसा काम दिखायी दे जो आवश्यक और उचित हो तो उसे करने के लिए उस संस्था से कार्यकर्त्ता आगे आयेंगे, साधन मिलेंगे ओर वह काम अवश्य पूरा होगा।

सत्य एक सरल सी वस्तु लगती है पर है बहुत कठिन। सत्य ही था वैदिक शिक्षा का मूल-मन्त्र, आत्मा में सत्य, दृष्टि में सत्य, संकल्प में सच्चाई और कार्य में सच्चाई। क्रियात्मक सत्य, आर्यत्व, आन्तर निष्कपटता, आर्जव, हृदय की अटल सच्चाई, स्पष्टता, वाणी तथा कर्म में प्राञ्जल उदात्तता—यह सब प्राचीन आर्य नैतिकता में स्वभाव से ही निहित था। यह सब शुद्ध और अविकृत शक्ति का रहस्य है और इस बात का चिह्न है कि मनुष्य प्रकृति से बहुत दूर नहीं हट गया। यही ईश्वर के सच्चे पुत्र, दिवस्पुत्र होने का प्रमाण है। यही वह छाप है जिसे महर्षि दयानन्द अपने पीछे छोड़ गये और यही उनका चिह्न और प्रतिमा होनी चाहिए जिसके द्वारा कोई कार्य इस रूप में पहचाना जा सके कि यह उनसे प्रवर्तित है। ईश्वर करे उनकी भावना शुद्ध, अविकृत, अपरिवर्तित रूप से भारत में काम करे और हमें वह वस्तु फिर से देने में सहायक हो जिसकी हमारे जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है अर्थात् शुद्ध शक्ति, उच्च स्पष्टता, सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि, सिद्धहस्तता और श्रेष्ठ एवं प्रभुत्वपूर्ण सत्यता।

(वैदिक मैगजीन, १९१५)

२

महर्षि दयानन्द और वेद

महर्षि दयानन्द ने वेद को अपनी दृढ़ आधार-शिला के रूप में अपनाया। वे वेद को अपने जीवन का मार्गदर्शक, अपनी आन्तरिक सत्ता का नियम और अपने बाह्य कार्य का प्रेरणा-प्रदाता समझते थे। इतना ही नहीं, वे इसे शाश्वत सत्य की वाणी मानते थे जिसे मनुष्यमात्र अपने ईश्वर-विषयक ज्ञान के लिए तथा भगवान् एवं मानव साथियों के प्रति अपने सम्बन्धों के लिए उचित और दृढ़ आधार बना सकता है। पर दूसरी तरफ बहुत से लोग कहते हैं कि वेद की ऐसी किसी नित्य चट्टान का अस्तित्व ही नहीं है, वहां भी सब जगह पायी जानेवाली मिट्टी और रेत के सिवाय और कुछ नहीं। वेद में पुराने काल के गड़रियों के गीतों के अतिरिक्त और रखा ही क्या है ? वह केवल प्राकृतिक घटनाओं की भद्दी पूजा है जो उन्हें पुरुषाकार कल्पित करके की गई है। बल्कि इससे भी नीचे दर्जे की बात यह कही जा सकती है कि इसमें कर्मकाण्ड में बोले जानेवाले अर्द्ध-धार्मिक, अर्ध-जादूभरे स्तोत्र हैं जिन्हें पढ़कर आदिकाल के अन्धश्रद्धालु पशुप्राय मानव आशा करते थे कि हमें सोना, अन्न और पशु मिलेंगे, हम अपने शत्रुओं का निर्दयतापूर्वक नाश कर सकेंगे, अपने को रोगी, अनर्थों एवं राक्षसी प्रभावों से बचा सकेंगे।

इन दो विचारों के साथ हमें एक तीसरा विचार भी जोड़ना है। वह है परम्परागत कट्टर-पंथी विचार या कम-से-कम वह विचार जो सायण के भाष्य से उत्पन्न हुआ है। यह विचार, वस्तुतः, वेद के प्रतिपाद्य विषय की नीच कोटि की व्याख्या स्वीकार करता है और फिर भी विचारों की इस आदिमकालीन खिचड़ी को पावन धर्मशास्त्र और पवित्र कर्मों या यज्ञों के ग्रन्थ के रूप में अत्यन्त उत्कृष्ट मानता है तो क्या यह उसे इस नीच कोटि की व्याख्या के कारण ही उत्कृष्ट समझता है?

सुतरां, यह विषय कोरा विद्वत्ता सम्बन्धी प्रश्न नहीं, बल्कि कई दृष्टियों से इसका जीवन्त महत्त्व है, केवल इसलिए नहीं कि इससे महर्षि दयानन्द के कार्य का ठीक-ठीक अंदाजा लगाया जा सकेगा वरन् इसलिए भी कि इससे हम अपने अतीत के विषय में जान सकेंगे और अपने भविष्य को ढालने वाले प्रभावों का निर्धारण कर सकेंगे। किसी राष्ट्र को भविष्य में जो रूप धारण करना है उसमें जब वह अपने को विकसित करता है तो जो कुछ वह भूतकाल में था और वर्तमान में है उसके बल पर ही वह यह कार्य करता है। उसके इस विकास में सचेतन और अवचेतन रूप से जांच-पड़ताल करने के ऐसे समय आते हैं जब उसका राष्ट्रीय आत्मा उन सब चीजों में से चुनाव करता है जो उसने भूतकाल में पायी है या वर्तमान में पा रहा है, तब वह उनमें हेर-फेर करता है और फिर इस दृष्टि से कि अपने भविष्य के विकास और कर्म के लिए उसे सामग्री और पूंजी के रूप में किन चीजों की आवश्यकता होगी, वह कुछ छोड़ता है और कुछ अपनाता है। ऐसी जांच-पड़ताल के काल से हम अब भी गुजर रहे है और महर्षि दयानन्द ऐसे समय के महान् और विधायक आत्माओं में से थे। परन्तु हमारे भूतकाल की समस्त सम्पदाओं में वेद सबसे अधिक पूजास्पद है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सबसे अधिक शक्तिशाली भी रहे हैं। जब वेदों का अभिप्राय समझ में आना बन्द हो चुका था, जब वैदिक परम्पराएं पौराणिक रंग-रूप की आड़ में लुप्तप्राय हो गई थी उस समय भी वेद, समझ में न आने पर भी, आदर की दृष्टि से देखे जाते थे, प्रामणिक इलहाम और ईश्वरीय ज्ञान के रूप में तथा समस्त आदेशों के मूलस्रोत और समस्त सत्य के मानदण्ड के तौर पर सम्मानित किये जाते थे।

पर वेद के विषय में हमेशा से ये दो परस्पर-असङ्गत परम्पराएं रही हैं—एक तो यह कि वेद कर्मकाण्डीय और गाथात्मक ग्रन्थ है और दूसरी कि यह दिव्यज्ञान का ग्रन्थ है। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने पहली परम्परा को आधार माना और अपनाया तथा उपनिषदों ने दूसरी को। पीछे से पण्डितों ने वेद को मुख्यतया कर्मकाण्ड की तथा सांसारिक कार्यों की पुस्तक के तौर पर मान लिया और विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति

के लिए वे अन्यत्र शरण ढूंढने लगे, परन्तु जाति अपनी सहज प्रेरणावश वेद के आगे झुकती रही, उसने वेद की उच्चतर परम्परा की अस्पष्ट स्मृति अपने अन्दर अदम्य रूप से बनाये रखी। आज जब हमारे युग में वेद पर से श्रद्धापूर्ण उपेक्षा के पर्दे को हटाकर उसे धुंधले सुरक्षित स्थान से बाहर निकाला गया है तो भी उसी घटना की पुनरावृत्ति हो रही है। आज एक तरफ पाश्चात्य विद्वानों ने सायण के निर्देशों का विस्तार करते हुए वेद को प्राकृतिक देवताओं के प्रति गाये गये कर्मकाण्डपरक स्तोत्रों के ग्रन्थों की श्रेणी में सदा के लिए रख दिया दीखता है। दूसरी तरफ जाति की प्रतिभा ने दयानन्द के चक्षुओं से देखते हुए, कई शताब्दियों ये चली आ रही भूल को बेधकर फिर से साक्षात् कर लिया है कि वेद हैं अनादि दैवी प्रकाश का अन्तःप्रेरित ज्ञान और मानवता को प्रदान किया गया दिव्य सत्य। जो कुछ भी हो, अब हमें वेद के विषय में इन दो विचारों में से किसी एक का चुनाव कर लेना होगा। हम अब वेद को अज्ञानपूर्ण श्रद्धा की तहों में लपेटकर या धार्मिक आत्म-वञ्चना द्वारा संगोपित करके अत्यन्त पवित्र वस्तु की तरह और अधिक सुरक्षित नहीं रख सकते। या तो वेद का स्वरूप वह है जिसे सायण हमारे सामने रखते हैं और तब हमें वेद को ऐसे गाथा-शास्त्र और कर्मकाण्ड के लेखों के तौर पर हमेशा के लिए पीछे छोड़ देना होगा जिनमें अब विचारशील मनीषियों के लिए कोई भी जीवित सत्य या बल नहीं रहा या वेद का स्वरूप वह है जिसे पाश्चात्य विद्वान् हमारे सामने रखते हैं और तब हमें वेद को अर्द्ध-असभ्य जाति की पूजा के पुरातन रिकॉर्ड के रूप में भूतकाल के अवशेषों में एक तरफ रख देना होगा, या फिर वेद सचमुच वेद है, दिव्य ज्ञान का ग्रन्थ है और तब हमारे लिए यह सर्वोपरि महत्त्व की वस्तु हो जाती है कि हम वेद को जानें और उसका सन्देश सुनें। यह आपत्ति उठायी जाती है कि वेद के दयानन्दकृत अर्थ सत्य अर्थ नहीं हैं, वरन् कल्पनाकुशल पाण्डित्य एवं चातुर्य की मनमानी कृत्रिम रचना हैं, उनकी शैली पर यह दोष लगाया जाता है कि वह स्वच्छन्द और बेढंगी है तथा समालोचनात्मक तर्क से स्वीकार नहीं की जा सकती। वे जो वेद को ईश्वरीय

ज्ञान बताते हैं उस पर यह कहा जाता है कि ईश्वरीय ज्ञान का विचार ही वह अन्धविश्वास है जिसे दुनिया छोड़ चुकी है और जिसे आज स्वीकृति देना या सचाई के साथ घोषित करना किसी भी ज्ञानवान् पुरुष के लिए असंभव है। महर्षि दयानन्द ने वेदमन्त्रों की जो व्याख्या की है वह कहां तक ठोस है इसकी परीक्षा मैं यहां इस समय नहीं करूंगा, उनके वेदभाष्य पर भविष्य में क्या राय कायम की जाएगी इसकी भविष्यवाणी भी नहीं करूंगा और नाही उनके ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) के सिद्धान्त पर विवाद छेड़ूंगा। मैं यहां केवल उनके वेद-विषयक विचार के आधारभूत मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन करूंगा जैसे वे मेरे सामने प्रस्तुत होते हैं। कारण, मेरी दृष्टि में किसी महान् आत्मा या महान् व्यक्ति के कर्म और विचार में मुख्य प्राणभूत वस्तु यह नहीं होती कि उसने उन्हें क्या रूप प्रदान किया, किन्तु यह होती है कि हमारी मानवीय उपलब्धि और दिव्य संभाव्यता के अद्यावधि अति स्वल्प भण्डार में उसने अपने कर्म द्वारा क्या सहायक शक्ति और प्रकट की ओर अपने विचार द्वारा क्या सहायक सत्य और जोड़ा, या यों कहें कि उसे पुनः प्राप्त करा दिया।

महर्षि दयानन्द के आलोचकों ने जो उनके कार्य का निरादर किया है उसे पहले लें तो वे कौन हैं जिनके मुख को यह कहना, यह आक्षेप करना कुछ शोभा दे सकता है कि महर्षि ने वेद का अर्थ अपनी कपोल-कल्पित और मनमानी चतुराई के साथ किया है ? उनके मुख को तो यह शोभा नहीं दे सकता जो सायण के परम्परागत भाष्य को स्वीकार करते हैं क्योंकि यदि स्वच्छन्द, पाण्डित्यपूर्ण चतुराई का कभी कोई स्मृति-चिह्न रहा है तो वह निःसंदेह यही भाष्य है जिसमें महान् पाण्डित्य ने न्याय्य निर्णय, सुनिश्चित रुचि और निर्दोष, आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक निरीक्षण को तलाक दे रखा है, प्रत्यक्ष अवलोकन और यहाँ तक कि अत्यन्त सीधी-सादी साधारण समझ तक को ताक पर धर रखा है, जैसा कि महान् पाण्डित्य प्रायः ही किया करता है, इसमें पूर्व-निर्धारित सिद्धान्त से जबर्दस्ती समता स्थापित करने के लिए मूल ग्रन्थ को लगातार तोड़ा-मरोड़ा गया

है। वैसे आचार्य सायण द्वारा हमें दिया गया यह भाष्य दूसरी तरह बहुत प्रभावशाली, प्रारम्भिक अनघड़ साधन के तौर पर बहुत उपयोगी, अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण और अतीव श्रमसिद्ध है। नाहीं ऐसा दोषारोपण उन लोगों के मुख को शोभा देता है जो योरोपियन विद्वानों के हाल में किये प्रयत्नों को वेद के विषय में अन्तिम परिणाम समझते हैं क्योंकि यदि कभी वैदिक व्याख्या का कोई ऐसा प्रयत्न किया गया है जिसमें चतुराईपूर्ण कल्पना के लिए अधिक-से-अधिक खुली लगाम छोड़ दी गई है, जिसमें संदेहास्पेद निर्देशों को निश्चित प्रमाणों के तौर पर झट से स्वीकार कर लिया गया है जिसमें तुच्छतम प्रमाण पर अति साहसपूर्ण परिणाम बड़े आग्रहपूर्वक निकाल लिये गये हैं, अति महान् कठिनाइयों की भी उपेक्षा कर दी गयी है और मूल-ग्रन्थ के स्पष्ट तथा प्रायः सर्वस्वीकृत निर्देशों के विरोध में भी अपनी पूर्वनिर्धारित, पक्षपातपूर्ण धारणा का ही पोषण किया गया है तो वह निःसंदेह यही प्रयत्न है। वैसे शताब्दीभर के दीर्घ काल तक योरोपियन वैदिक विद्वानों द्वारा वेद पर किया गया यह प्रयत्न एक तरह से अपने उद्योग, सदिच्छा और अनुसन्धान-शक्ति की दृष्टि से बहुत ही आदरणीय है।

इस विषय में मुख्य भावात्मक प्रश्न क्या है कि जिस पर हमें विचार करना है ? वेद की किसी व्याख्या की सफलता या विफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें वैदिक धर्म का केन्द्रीय विचार क्या माना गया है और स्वयं वेद की अपनी अन्तःसाक्षी उस विचार की कहां तक की पुष्टि करती है। इस विषय में महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है और और उसका आधार अखण्डनीय है। वेद के सूक्तों में अनेक नामों द्वारा एक ही परम देवता के गीत गाये गये हैं, वे नाम उसके गुणों और शक्तियों को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं और यहां तक कि इसी अभिप्राय और उद्देश्य से सोच-विचार कर रचे गये हैं। क्या महर्षि का यह विचार उनकी मनमानी घड़न्त था जो उनकी अपनी ही अति चातुर्यपूर्ण कल्पना द्वारा प्रस्तुत किया गया था ? कभी नहीं, यह तो स्वयं वेद का ही सुस्पष्ट वचन है–"एक ही सत् के विषय में विप्र लोग अनेक प्रकार से

वर्णन करते हैं, इन्द्र के रूप में, यम, मातरिश्वा और अग्नि के रूप में।'' यह ध्यान देने योग्य है कि वर्णन करनेवाले अज्ञानी नहीं वरन् विप्र, ऋषि, ज्ञानधनी द्रष्टा हैं। वेद के ऋषि लोग अपने धर्म के विषय में अवश्य कुछ जानते होंगे, हमें आशा करनी चाहिए कि रॉथ या मैक्समूलर से अधिक ही जानते होंगे और जो वह जानते थे वह यही है।

हम जानते है कि आधुनिक विद्वान् इस प्रमाण से बचने के लिए कैसी तोड़-मरोड़ करते हैं। वे कहते है कि यह ऊपर उद्धृत वेदमन्त्र पीछे की रचना है। यह इतना ऊंचा विचार, जो इतनी स्पष्टता और प्रबलता के साथ प्रकट किया गया है, आर्यों के मन में किसी तरह बाद में उठा अथवा यह इन अज्ञानी अग्निपूजक, सूर्यपूजक, नभःपूजक आर्यों के अपने मन में स्वयं उठा भी नहीं, बल्कि उन्होंने इसे अपने सुसंस्कृत तथा दार्शनिक द्राविड़ शत्रुओं से उधार लिया। परन्तु सारे ही वेद में हमें इस विचार की पुष्टि करनेवाले मन्त्र और वचन मिलते हैं। अग्नि या इन्द्र या अन्य देवता ऋचाओं में स्पष्टतया इस प्रकार वर्णित किये गये हैं कि ये अन्य सब देवों के साथ एक हैं। अग्नि में अन्य सब देवों की शक्तियां हैं, मरुत् सर्वदेवतामय वर्णित किये गये हैं, एक देवता जहां अपने नाम द्वारा संबोधित किया गया है वहां अन्य देवों के नामों द्वारा भी या, जैसा कि प्रायः देखा जाता है, एक-एक देवता को जगत् का पति या विश्व का राजा मानकर उसके लिए ऐसे विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं जो एकमेव परम देव के लिए ही प्रयुक्त हो सकते हैं। पर पश्चिमी विद्वान् कहेंगे, 'अहा, इसका यह अर्थ नहीं हो सकता, न होना चाहिये और न कभी हो ही सकता है कि वेद में एक ईश्वर की पूजा का प्रतिपादन है; इसके लिए हमें एक नये शब्द का आविष्कार कर इसे हिनोथीज्म (Henotheism)(एकैक-अधिदेववाद) का नाम देना चाहिये और यह मानना चाहिये कि ऋषि अग्नि या इन्द्र को वास्तव में एक परम देवता नहीं मानते

१। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

थे किन्तु किसी भी या हर एक देवता के साथ उस-उस काल के लिये परम देव-जैसा व्यवहार करते थे, शायद इसलिये कि वे समझते थे कि इस प्रकार वह देव अपनी अधिक खुशामद से खुश होकर, इतनी चढ़ी-चढ़ी स्तुति सुनकर पसीज जाय।' पर क्यों न स्वाभाविक एकेश्वरवाद को ही वैदिक विचार का आधार मान लिया जाय, इस नये निकाले भयङ्कर हिनोथीज्म (Henotheism)[1] की जरूरत ही क्या ? इसलिये कि आदिम असभ्य लोग इस प्रकार ऊंचे विचारों तक नहीं पहुंच सकते थे और यदि उन्हें तक पहुंचा हुआ मान लिया जाय तो हमारे विकासवाद द्वारा अनुमत मानवीय उन्नति की क्रमिक अवस्थाओं के सिद्धान्त पर पानी फिर जाता है और वेदमन्त्रों के आशय के बारे में तथा मनुष्यजाति के इतिहास में वेदों को जो स्थान है उसके संबंध में हमने जो विचार बना रखा है वह सब-का-सब ढह जाता है। सत्य को चाहिये कि वह अपने आप को छिपा ले, साधारण समझ को भी चाहिये कि वह बीच में रोड़ा न बनकर एक तरफ हो जाय जिससे उनका एक वाद (थ्योरी) फल-फूल सके। यही मतलब हुआ न ? मैं यहां पूछता हूँ, खास इस मुद्दे पर-इस आधारभूत मुद्दे पर पूछता हूँ कि कौन यहां मूल वेद के साथ बिना तोड़-मरोड़ के, सीधे और साफ तौर पर बरत रहा है, महर्षि दयानन्द या यूरोपीय विद्वान् ?

पर यदि महर्षि दयानन्द का यह आधारभूत मुद्दा स्वीकार कर लिया जाता है और स्वयं वैदिक ऋषियों ने अपने देवताओं को जो स्वरूप प्रदान किया है वह मान लिया जाता है तो हम इस बात के लिए बाधित हो जाते हैं कि जब कभी हम ऋचा में अग्नि या किसी अन्य देव का वर्णन पायें तो हम देखें कि उस नाम के पीछे सदा ऋषियों के विचार में एक परम देवता उपस्थित है या उसी परम देवता की एक शक्ति अपने सहचारी गुणों या क्रियाओं के साथ विद्यमान है तो फिर तत्काल ही वेद का सारा स्वरूप महर्षि द्वारा निर्धारित वेदार्थ के अनुसार ही

१। Henotheism अर्थात् एक ऐसा एकेश्वरवाद जिसमें यह आग्रह नहीं कि वही एकमात्र देवता है।

सुनिश्चित हो जाता है, सायण की केवल कर्मकाण्डपरक, गाथावादी और बहुदेवतात्मक व्याख्या ढह जाती है। उसकी जगह हमें मिल जाता है यथार्थ ईश्वरीय शास्त्र जो विश्व के पवित्रतम ग्रन्थों में से है और एक उदात्त तथा महिमाशाली धर्म की दिव्य वाणी है।

वेद के विषय में महर्षि का शेष सब मन्तव्य इसी आधारभूत विचार का तर्कसम्मत परिणाम है। यदि देवताओं के नाम एक परम देव के गुणों को बतलाने वाले हैं और ऋषि लोग इन गुणों की ही उपासना करते थे और इन्हीं की ओर वे अपनी अभीप्सा प्रेरित करते थे तो अवश्य ही वेद में दैवी प्रकृति की अध्यात्मविद्या का तथा परमेश्वर के साथ मनुष्य के संबंधों की विद्या का बहुत बड़ा भाग होना चाहिये और उसमें मनुष्य की भगवन्मुखी प्रवृत्ति के नियामक विधान का सतत निर्देश भी होना चाहिए। महर्षि दयानन्द बलपूर्वक कहते हैं कि ऐसा नैतिक तत्त्व वेद में विद्यमान है, वे वेद में जीवन का वह नियम पाते हैं जो परमेश्वर ने मानव प्राणी को प्रदान किया है। यदि वैदिक देवता उस परम देव की शक्तियों को प्रकट करते हैं जो विश्व का रचयिता, शासक और पिता है तो वेद में विश्वविज्ञान का एक बड़ा भाग तथा सृष्टि एवं विश्व के नियम का वर्णन अनिवार्य रूप से होना ही चाहिये। महर्षि दयानन्द प्रबल शब्दों में कहते हैं कि ऐसा विश्वसंबंधी तत्त्व वेद में विद्यमान है, वे वेद में सृष्टि रचना के रहस्य तथा प्रकृति का वह विधान पाते हैं जिसके द्वारा सर्वज्ञ देव जगत् पर शासन करते है।

न तो पाश्चात्य विद्वान् वेदमन्त्रों के आध्यात्मिक और नैतिक महत्त्व को विलुप्त करने में सफल हो सके हैं और न ही कर्मकाण्डीय पण्डित। पर ये दोनों ही अपने-अपने कारणों से इसे भिन्न-भिन्न अंश में कम करने में लगे रहे हैं। पश्चिमी विद्वान् इसे इसलिए कम करते हैं कि जब कभी वे इन प्रारम्भिक काल के वचनों में ऐसे विचार बलात् सामने आते देखते है जो आदिम नहीं हो सकते तो वे बेचैनी अनुभव करते हैं; तब वे अपनी उन व्याख्याओं को भी अमुक स्थलों पर खुले तौर पर छोड़ देने में नहीं हिचकिचाते जिन्हें वे अन्य स्थलों पर स्वयं

उपयोग में लाते हैं और अपने ही शब्दशास्त्रीय तथा समालोचनात्मक तर्क के बल पर निश्चित तौर से आवश्यक मानते हैं। कारण, यदि वे उन्हें हर जगह उपयोग में लावें तो, उनसे प्रायः वेद में ऐसे गम्भीर तथा सूक्ष्म आध्यात्मिक विचारों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है जो उनकी सम्मति में, उन आदिकालीन वैदिक विचारकों में पैदा ही नहीं हो सकते थे। सायण वेद के इस आध्यात्मिक तथा नैतिक महत्त्व को इसलिए कम करते हैं कि उनके मत के अनुसार वेद ऐसा नैतिक धर्माचरण नहीं सिखलाता जिसका फल नैतिक एवं आध्यात्मिक होता है बल्कि वह यन्त्रवत् याज्ञिक क्रियाकलाप करने की शिक्षा देता है जिसका फल भौतिक होता है। पर वेदों के इस नैतिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व को दबाये जाने के नाना प्रयत्न किये जाने पर भी उनके ये उदात्त विचार, उन पर मनमाने प्रकृतिवाद या निर्जीव कर्मकाण्ड का जो अर्थ आरोपित किया जाता है उसका आश्चर्यजनक विरोध करते हुए अपने आप को आजकल भी प्रकट करते आ रहे हैं। ऋचाओं में सतत वैदिक देवताओं का ऐसा वर्णन आता है कि ये ज्ञान, शक्ति और पवित्रता के प्रभु, पवित्रीकारक, दुःख और बुराई के निवारक, पाप और झूठ के विध्वंसक तथा सत्य के योद्धा हैं। ऋषि अनवरत उनसे प्रार्थना करते हैं कि हमारे दुःख दूर करो, हमें पवित्र करो, हमें ज्ञान के द्रष्टा और सत्य के स्वामी बनाओ, हमें दिव्य नियम में धारित किये रहो, हमें अपने बल, पौरुष और शक्ति से सहायता प्रदान करो और इनसे सन्नद्ध करो। वेद में इस ईश्वरीय सत्य और धर्म के विचार को महर्षि दयानन्द कहीं बाहर से नहीं ले आये। वेद यहूदियों की बाइबल तथा पारसियों की अवस्ता के समान ही या उससे भी कहीं अधिक ईश्वरीय विधान का ग्रन्थ है।

वेद में विश्वसंबंधी तत्त्व भी किसी तरह कम सुस्पष्ट नहीं। ऋषि हमेशा कहते हैं कि अनेक लोक है और उनके अटल नियम हैं, जिनके द्वारा वे शासित होते हैं, विश्व में देवताओं की क्रिया-प्रणलियों कार्य कर रही है। पर महर्षि दयानन्द इससे भी आगे बढ़ते हैं, वे कहते हैं कि आधुनिक भौतिक विज्ञान के

सत्य वैदिक मन्त्रों में प्राप्य हैं। यहाँ हमारे सामने वह एकमात्र विचारणीय मूल सिद्धान्त प्रस्तुत है जिसके विषय में किसी का संदेह करना उचित हो सकता है। यहा मैं अपनी अक्षमता स्वीकार करता हूँ कि इस विषय में मैं अपनी कोई निश्चित सम्मति प्रस्तुत नहीं कर सकता। पर इतना कहना आवश्यक है कि प्राचीन जगत् के विषय में आजकल के ज्ञान की प्रगति महर्षि के विचार को उत्तरोत्तर पुष्ट ही कर रही है। पुरातन सभ्यताओं में अवश्य अनेक वैज्ञानिक रहस्य थे जिनमें से कुछ-एक को आधुनिक विद्या ने पुनः प्राप्त किया है तथा विस्तृत एवं अधिक समृद्ध कर सम्यक्तया व्यक्त किया है किन्तु अन्य रहस्यों को अब तक भी नहीं पाया। इस प्रकार महर्षि दयानन्द के इस विचार में तनिक भी मनमानी काल्पनिकता नहीं है कि वेदों में धार्मिक सत्य के समान ही वैज्ञानिक सत्य भी निहित है। इसके साथ ही मैं यह भी कहता हूँ कि मेरे विश्वास के अनुसार वेदों में एक दिव्य विज्ञान के अन्य सत्य भी हैं जो वर्तमान जगत् के पास बिलकुल ही नहीं हैं। ऐसी दशा में महर्षि ने वैदिक विद्या की गम्भीरता और विशालता के विषय में अत्युक्ति नहीं बल्कि न्यूनोक्ति ही की है।

भाषाविज्ञान तथा व्युत्पत्तिशास्त्र की जिस पद्धति से वे अपने परिणामों पर पहुंचते हैं उस पर भी आपत्ति उठायी गयी है, विशेषकर तब जब वे देवताओं के नामों के साथ बरतते हैं। पर मैं निश्चित रूप से अनुभव करता हूँ कि यह आपत्ति उठाना हमारी भूल है। उस भूल का कारण यह है कि हम इस प्राचीन भाषा के अनुशीलन में भी भाषा संबंधी आधुनिक विचारों को घुसेड़ने लगते हैं। हम आधुनिक लोग शब्दों का प्रयोग चालू सिक्कों की तरह करते हैं जिनमें उनके मूलभूत अर्थ का किसी प्रकार का स्मरण या मूल्याङ्कन नहीं किया जाता। जब हम बोलते हैं तो हमारे ध्यान में कथित पदार्थ ही रहता है, उसका व्यंजक शब्द बिल्कुल नहीं रहता, शब्द तो हमारे लिए निर्जीव और निस्तेज वस्तु है, भाषा के चालू सिक्कों में से एक सिक्का मात्र है जिसका अपना कुछ मूल्य नहीं। इसके विपरीत, प्राचीन भाषा में शब्द अर्थ का बोध करानेवाली मूलभूत शक्तियों से

युक्त एक जीती-जागती वस्तु था। उसके मूल अर्थ याद रखे जाते थे क्योंकि उनका उपयोग उस समय तक भी होता था, उसकी ओजस्विता का वैभव वक्ता के मन के अन्दर स्पष्ट रूप में विद्यमान रहता है। आज हम बोलते हैं 'भेड़िया' और उससे हमें एक विशेष पशु का ध्यान आता है; किसी अन्य ध्वनि से भी हमारा वह मतलब पूरा हो सकता है यदि उस ध्वनि का प्रयोग उस अर्थ में प्रचलित हो। प्राचीन लोग इसके लिऐ बोलते थे 'वृक' (फाड़ डालने वाला) और तब वृक शब्द का यह आशय उनके मन में विद्यमान रहता था। हम कहते हैं 'अग्नि' और हमें आग का ध्यान आता है, यह शब्द हमारे लिये इसके अतिरिक्त किसी काम का नहीं। पर प्राचीन लोगों के लिए 'अग्नि' के और भी कई अर्थ थे और यह स्थूल-भौतिक आग के लिए इस कारण प्रयुक्त होता था कि इसके मूल (धात्वीय) अर्थों में से एक या अधिक इस पर भी लागू होते थे। हमारे शब्दों की सामर्थ्य सावधानतापूर्वक एक या दो अर्थ बतलाने तक ही सीमित रखी गई है पर प्राचीन लोगों के शब्द बहुत से अर्थों को जतलाने में समर्थ होते थे। यदि वे चाहते तो उनके लिये यह बिल्कुल आसान था कि वे अग्नि, वरुण या वायु जैसे किसी एक शब्द को बहुत से संबद्ध तथा पेचीदे विचारों के लिये एक ध्वनि-तालिका के रूप में प्रयुक्त कर सकें, उसें एक कुञ्जी का काम देने वाले शब्द की तरह बरतें। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि वैदिक ऋषियों ने वेदमन्त्रों में अपनी भाषा के अतिशय ओज का अवश्य लाभ उठाया है—वे 'गो' या 'चन्द्र' जैसे शब्दों को कैसे बरतते हैं यह ध्यान देने योग्य है। वैदिक शब्दों की क्षमता के बारे में निरुक्त भी साक्षी देता है तथा ब्राह्मणों और उपनिषदों में हम देखते हैं कि शब्दों के इस स्वतन्त्र और प्रतीकात्मक उपयोग की स्मृति अभी तक बनी है।

निःसन्देह, यूरोपियन विद्वानों को भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा जो लाभ प्राप्त है वह महर्षि दयानन्द को प्राप्त नहीं था। नया भाषा-विज्ञान अपने-आप में बुरी तरह दोषपूर्ण होते हुए भी प्राचीन निरुक्त की कमियों को पूरा करने में हमें मदद देता है। भविष्य में वेद के अर्थ पर प्रकाश डालने के लिए हमें

प्रकाश के इन दोनों ही स्रोतों का उपयोग करना होगा तो भी इससे केवल ब्योरे की बातों पर ही प्रभाव पड़ता है, महर्षि की व्याख्या के आधारभूत सिद्धान्त इससे अछूते ही रहते हैं। विस्तृत व्याख्या करना बुद्धि तथा पाण्डित्य का काम है और बौद्धिक सम्मति और पाण्डित्य के मामले में लोग संभवतः विवेचन के अन्त तक मतभेद ही रखते दिखलायी देते हैं। किन्तु सभी मौलिक सिद्धान्तों में, उन महान् और आधारभूत निर्णयों में जहाँ बुद्धि की क्रिया के लिए दिव्य अन्तर्ज्ञान की दृष्टि की सहायता प्राप्त करना आवश्यक होता है, महर्षि दयानन्द सर्वथा उचित ठहरते हैं। स्वयं वेद में प्रतिपादित तत्त्व के द्वारा, तर्क और युक्ति के द्वारा वे सही साबित होते हैं। वेद अवश्य बहुत से नामों और शक्तियों वाली एक परम देवता की स्तुति करता है, वेद अवश्य दिव्य विधान का तथा उसे पूरा करने की मानवी आकाङ्क्षा का गुणगान करता है, निश्चय ही उसका आशय है हमारे लिए सृष्टि के नियम का प्रतिपादन करना।

ईश्वरीय ज्ञान के प्रश्न पर लिखने को मेरे पास स्थान नहीं बचा। इतना कहना पर्याप्त है—इस विषय में भी महर्षि दयानन्द पूरी तरह युक्ति-संङ्गत हैं। उन्होंने जो इस सिद्धान्त को माना और उद्घोषित किया इस कारण उन पर यह दोष लगाना कि वे सच्चे नहीं थे, बिल्कुल हास्यास्पद है। यदि हम सत्ता को यत्किञ्चित् भी समझना चाहते हैं तो हमें स्वीकार करना होगा कि यहाँ तीन आधारभूत तत्त्व सदा ही विद्यमान रहते हैं और फिर हमें उनके परस्पर-सम्बन्धों को भी जानना होगा। वे तत्त्व हैं परमेश्वर, प्रकृति और जीवात्मा। महर्षि के पास ठोस आधार है कि वेद हमें परमेश्वर के दर्शन कराता है, प्रकृति के नियम का दर्शन कराता है, और कराता है प्रकृति और परमेश्वर के साथ जीवात्मा के संबंधों का दर्शन। यदि ऐसा है तो यह दिव्य सत्य के ईश्वरीय ज्ञान के सिवाय और क्या है ? जैसा कि वे मानते थे, वेद इन बातों को हमारे सामने पूर्ण सत्य के साथ, सर्वथा निर्दोष रूप में प्रकाशित करते हैं। यदि ऐसा है तो वे वेद को निश्चय ही निर्भ्रान्त धर्मग्रन्थ मान सकते हैं। बाकी जो रहता है वह तो ईश्वरीय ज्ञान की

विधि का प्रश्न है, हमारी जाति के साथ ईश्वर के बर्त्ताव का, मनुष्य की आध्यात्मिकता तथा शक्यताओं का प्रश्न है। आधुनिक चिन्तक ने प्रकृति और नियम को स्वीकारते हुए तथा परमेश्वर का निषेध करते हुए ईश्वरीय ज्ञान की संभावना का भी निषेध कर दिया है। पर ऐसे तो इसने और भी बहुत सी बातों से इन्कार किया है जिन्हें अधिक अर्वाचीन विचारक अब फिर स्वीकार करने में अत्यधिक तत्पर हैं। हम एक महान् मनीषी से यह मांग नहीं कर सकते कि वह जहां-तहां से लायी गयी किसी सम्मति का या उस समय के किन्हीं अस्थायी सिद्धान्तों का दास बन जाय। उसकी महत्ता का असली सार ही यही है कि वह परे देखता है, गहराई में देखता है।

मेरा पूरा विश्वास है कि वेद की व्याख्या के विषय में महर्षि दयानन्द उसके सच्चे सूत्रों के प्रथम आविष्कर्ता के रूप में सदा समादृत किये जायेंगे, भले ही वेद की अन्तिम सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या कोई भी क्यों न हो। उनका प्रत्यक्षदर्शी चक्षु पुराने अज्ञान और युग-व्यापी भ्रान्ति की अव्यवस्था और अन्धरात्रि को भेदकर सीधे ही सत्य की तह तक पहुँचा और मूल तत्त्व पर जा टिका। उन्होंने उन द्वारों की कुंजी प्राप्त की जिन्हें काल ने बन्द कर रखा था और रुद्ध निर्झरों के मुंह पर लगी मोहर तोड़ फेंकी। (वैदिक मैगजीन, १९१६)

आध्यात्मिक क्रियात्मकता एवं व्यवहारिक आध्यात्मिकता के परिपूर्ण समन्वय को हृदयंगम करने के लिए महर्षि दयानन्द के अमर ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश एवं ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका को पढ़ें।

—सचेतस्

परिशिष्ट

महर्षि दयानन्द के प्रति कृतज्ञता के दो शब्द

—सुखवीर आर्य

विश्व के इतिहास में कम ही ऐसे पृष्ठ हैं, और वे भी खोजने पर ही मिलते हैं, जिनमें कुछ ऐसा विलक्षण चारित्रिक वृत्त होता है जिसकी स्मृति मानस में सतत बनी रहती है। हृदय जिसकी ओर खिंचता रहता है। अंतर्सत्ता मुदित रहती है। आत्मा जिसके गुणगान करती थकती नहीं, हमारे चेतना-पट पर जिसकी छवि अंकित हो जाती है, जिसके सम्मुख जीवंत हो उठती है। मानों कुछ कहना चाहती है। यह एक देव-तुल्य महापुरुष का व्यक्तित्व होता है, जिसका आधार एक महान, उच्च, अतुलनीय, अतिमानसिक चरित्र होता है। वह उन सभी के लिए आकर्षण का केन्द्र होता है जो संसार में एक आदर्शमय जीवन जीने की अभिलाषा अपने हृदय में पोषित करते हैं।

इन महापुरुषों में एक ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व की झांकी मिलती है, जिस पर हठात् विश्वास करना, आज मानव-चेतना-स्तर पर दृष्टिपात् करने के पश्चात् कठिन होता है। केवल अपने लिए जीने वाले, अपने सुख-भोगों में ग्रस्त रहने वाले, कामनाओं से भरे अहंकार की काली छाया में बहने वाले सांसारिक जीवन के बीच में एक देदीप्यमान सूर्य के समान व्यक्तित्व मानव-जीवन-मार्गों को प्रकाशित करता हुआ हम पाते हैं। जिसे अपनी चिंता नहीं, अपने सुख-ऐश्वर्य के लिए जीवन में कोई स्थान नहीं, मानों अपने-आप से ऊपर उठ गया हो और सम्पूर्ण विश्व ही उसका व्यक्तित्व, उसका जीवन, जीवन का प्रयोजन हो उठा हो। जो केवल जगत् के मंगल के लिए, मानव जाति के कल्याण के लिए, उसके चेतना-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए ही जन्मा हो। अपने व्यक्तिगत सब सुखों की, मनोरथों की, बलि चढ़ा चुका हो। जिसके जीवन में अपना कहने को, अपने

लिए भोगने को कुछ न हो, सब जाति, धर्म, मानवता के हित अर्पण कर चुका हो। जिसके नयनों में एक ही स्वप्न है, हृदय में एक ही संकल्प, प्राणों में एक ही अभिलाषा, सम्मुख एक ही लक्ष्य–कैसे इस हिन्दू जाति को, जगत् श्रेष्ठ आर्य जाति को, इस प्राचीनतम भारतीय संस्कृति को पुनः संसार में सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित किया जाये। ऐसे एक भागवत पुरुष को विश्व इतिहास महर्षि दयानन्द के नाम से हमारे समक्ष उपस्थित कर रहा है।

महर्षि बचपन से ही अंतर्सत्ता में जीवन-लक्ष्य के प्रति सेचतन थे। इसीलिए मानव स्वभाव की दुर्बलताएं उन्हें कभी स्पर्श नहीं कर पायीं। वे सदैव अन्तिम श्वास तक उनसे ऊपर थे जो लक्ष्य उनको प्रबुद्ध एवं सजग आत्मा ने उनके लिए चुना, उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और त्याग, तपस्या तथा बलिदान से भरा जीवन-यापन कर उस संसिद्ध किया। कष्ट उठाये, यंत्रणायें भोगी, विरोधी तत्त्वों से टक्कर ली, विषैले वातावरण में भी कर्त्तव्य से नहीं चूके। दुर्भावना से भरे समुदाय को गले लगाया, प्राणों की बाजी लगाकर भी सत्य की ध्वजा फहरायी, ओ३म् की ध्वनि से धरा-आकाश को स्पंदित किया, पाखण्डियों के तमसाच्छन्न दम्भ चूर कर, उनके अधिकार से, चंगुल से वेदों को मुक्त किया। उनके द्वारा प्रदर्शित अनुचित अर्थों को धूल में मिलाया। वेदों के सत्य अर्थ को वे सरल भाषा में सामान्य जन के सामने लाये। उनकी उपयोगिता को समझाया। वेदों के प्रति अनुचित धारणा को, विकृत भावों को, उनके हृदय, मन-बुद्धि से पोंछा और उनकी महिमा, जीवन में उनका युक्ति संगत स्थान दर्शा कर उनका सत्य अर्थ प्रकाशित किया। आर्य जाति की श्रेष्ठता प्रामणित की, आर्य आदर्श की स्थापना कर मानव जाति के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न किया कि एक अदृश्य शक्ति है जो इस सृष्टि के पीछे सहायक के रूप में सदा विद्यमान है। इसे मुक्ति की ओर, उसके आनन्द की ओर ले जा रही और जब-जब अज्ञान की, अन्धकार की शक्तियाँ प्रबल हो उठती हैं, उन्हें कुचलने के लिए किन्हीं विशेष व्यक्तियों के द्वारा–जिनकी व्यक्तिगत चेतना अहंकेंद्रित परिधि को लांघ चुकी है, जो दूसरों के

लिए जीने को ही जीवन का सही, सच्चा स्वरूप मानते हैं–ऐसे महापुरुषों के पीछे कार्य करती है।

वेदों के उद्धारक, वैदिक शिक्षा को संसार के सम्मुख लाने वाले इस देव-पुरुष का जीवन, जिसे विभूति कह कर संबोधित करने में हम एक आंतरिक प्रसन्नता अनुभव कर रहे हैं, उस पावन सिंधु की भाँति है जो असंख्य रत्नों से भरपूर है। इसकी दूरदर्शिता को देखकर महान् मनीषियों के शीश भी सादर झुक जाते हैं। वेदों का पुनरुद्धार तथा समाज को अन्धविश्वासों से बाहर लाने के अतिरिक्त भी महर्षि के कुछ दिव्य कर्म ऐसे हैं जिन्हें स्मरण कर सुरपुर में अभी भी शंखध्वनि कर उन्हें सम्मानित किया जाता है।

वैदिक शिक्षा के प्रति मानव-चेतना को उद्‌घाटित करना, उसके प्रकाश में जीवन-यापन करने की अभीप्सा जगाना, आर्य चरित्र ही सही अर्थ में मनुष्यत्व है, यह विश्वास मनुष्य के हृदय में स्थापन करना, महर्षि के जीवन का लक्ष्य रहा। इसी शिक्षा का जीवंत आदर्श संसार के सामने प्रस्तुत कर महर्षि हमें आमंत्रित कर रहे हैं। सत्य की विजय ही ऋषि की विजय है और आज नहीं तो कल इसकी संसिद्धि अवश्यंभावी है। वेद सृष्टि में प्रथम उद्‌घोषित शब्द-ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। उसी की चरितार्थता में यह पुनः अपने उद्‌गम से युक्त हो सकेगी। मूल उद्‌गम से युक्त होना ही सृष्टि का अंतर्निहित लक्ष्य है। उसी की ओर यह अग्रसर हो रही है।

अगर हम सही अर्थ में महर्षि के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहते हैं और उनके अधूरे कार्य को आगे बढ़ाना चाहते हैं–जो कि वैदिक शिक्षा का प्रचार वेद की वाणी का, उसके संदेशों का प्रसार करना है–तो प्रथम हमें स्वयं एक आदर्श आर्य पुरुष का जीवंत उदाहरण संसार के सम्मुख उपस्थित करना होगा तभी हमारे शब्दों में वह शक्ति आएगी जो मनुष्य को असत्य से ऊपर उठाकर, उसका निवास वैदिक सत्य में संभव बनायेगी।

वेद एक जीवंत चेतन ज्योति-स्तंभ है और अपनी ज्योति तथा चेतना को

अस्तित्व में बनाये रखने के लिए उसके अन्दर पर्याप्त शक्ति है। कितना भी भयंकर अन्धकार जगत् में छा जाये, कितने भी विदेशी आक्रमण हों, उनका रूप चाहे जो हो, वेद अपने स्थान पर संसार में सदा सम्मानित होते रहेंगे। जब तक एक भी हृदय शुद्ध है, जन-मंगल-भावनाओं से भरपूर है, परमात्मा की ओर उद्घाटित है, तब तक वेद पृथ्वी के वातावरण में सदा प्रकाशमान रहेंगे, अपनी ज्योति को मानव-चेतना पर विकीर्ण करते रहेंगे।

अगर हम मानव जीवन में, उसकी चेतना में उत्थान लाना चाहते हैं तो अपने जीवन को बलिदान का स्वरूप प्रदान करें। अगर इस जाति को जगाना, इसके वर्तमान स्तर को ज्योतिर्मय बनाना है तो हमें स्वयं जागना, अपना चेतना-स्तर ऊँचा उठाना होगा। जन्मभूमि को मातृ रूप में देखना, उसके लिए जीना होगा। अपने अन्दर एक ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि उत्पन्न करनी होगी जो हमें दिखाये कि इस समय जो हमारा जीवन-स्तर है वह उस आदर्श से दूर है जो हमने अपने सामने रखा है। हमारे विचार अपने तक, अपने परिवार तक ही सीमित हैं। हमारा जीवन अपने लिए है। अभी हम स्वार्थमय जीवन से पूरी तरह ऊपर नहीं उठे। हम देख रहे हैं कि जिन्हें हम अपना आदर्श मानकर चल रहे हैं, उनका बलिदानमय जीवन समस्त भू-मंडल पर सूर्य के प्रकाश की भाँति चमक रहा है। महर्षि सबके हैं, सबके लिए हैं। उनका हर विचार हर चेष्टा, हर चिंता दूसरों के लिए, मानव मात्र के मंगल के लिए है। मानव जाति को अज्ञान से बाहर लाने के लिए, एक ज्योतिर्मय मानसिकता में स्थित करने के लिए है। जीवन-मार्गों पर मनुष्य का संबंध सीधा सत्य से कराने के लिए साधना है। वे जीवन-भर इसी दिशा में, इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए भागीरथ श्रम करते रहे। मानों सत्य के प्रतिनिधि के रूप में ही पृथ्वी पर उनकी आत्मा का अवतरण हुआ हो। उनका अंतर्मन सदा दीपक की लौ की भांति प्रकाश प्रदान करता रहा। अपनी खोई हुई संस्कृति को पुनः प्राप्त करने के लिए, जन-जन में इसकी प्राप्ति की अभीप्सा जगाने के लिए प्रज्ज्वलित रहा। अगर हम उनके जीवन का गहनता के साथ अवलोकन करें तो हम देखेंगे—उनके मन में इच्छाएँ नहीं, हृदय में कामनाएँ नहीं, वे मानवता से कुछ

नहीं चाहते। हमें संसार को देखने की उच्च दृष्टि, जो कि वैदिक ज्ञान पर आधारित है प्रदान करना चाहते हैं, अज्ञान से, भ्रांतियों से बाहर लाकर एक सत्यमय चेतना में खड़ा करना चाहते हैं। उन्होंने हमारे सामने मुक्ति-पथ प्रशस्त किया। मानव-जीवन की एक सुन्दर, शास्त्रोक्त व्यवस्था की। वे चाहते थे कि हम वेद-सूर्य से आलोकित पथ पर चलें और सुखपूर्वक गन्तव्य प्राप्त करें। वह देवोपम मानव दयालु था और एक भागवत यंत्र की भाँति हमारा भार उठाने को सदा उद्यत रहा। हमें चाहिये कि हम भी अपनी ओर से उनकी शिक्षा के, उनके आदर्श के प्रति समर्पित रहें। हमारा हर कर्म, हर चेष्टा देश के लिए, धर्म के लिए, परमेश्वर के लिए हो। यही वह जीवन कला है जो वे हमें सिखाना चाहते थे जो जीवन को सही अर्थवत्ता प्रदान करती है। जिनके लिए यह व्यवहार की वस्तु बन जाती है, जो सारी वसुधा को अपना परिवार मानते हैं, वे प्रभु के प्यारे होते हैं। उन पर कृपा बरसती है। उनका हृदय आवरणहीन होता है। उन्हें दृष्टि प्राप्त होती है। वे वस्तुओं में, प्राणियों में, उनके भीतर सत्य को देखते हैं। उनका निवास सत्य में होता है। सत्य में निवास मानव-जीवन की सफलता है। जिसे देखकर हमारे भीतर आत्मा प्रसन्नता अनुभव करती है। जहाँ आत्मा की प्रसन्नता है वहीं प्रभु आशीर्वाद, उनकी कृपा और उनकी सहायता विद्यमान रहती है।

शास्त्रों की दृष्टि में मनुष्य वही है जिसका हृदय आवरणहीन है। आत्मा के प्रकाश से जिसके मन, बुद्धि प्रकाशित हैं। जिसके व्यवहार में आत्मा के गुण झलकते हैं। प्रेम प्रवाहित होता है। जो देश, धर्म और जाति के प्रति सर्वस्व का त्याग करने को, सर्वस्व का बलिदान करने को सब समय उद्यत है। जिसका जीवन अपने लिए न होकर संसार के लिए, परमात्मा के लिए है। जब इतिहास में किसी एक ऐसे आदर्श व्यक्ति के विषय में हम कल्पना करने का प्रयास करते हैं, जो इन सब गुणों से सम्पन्न हो, तब महर्षि दयानन्द सरस्वती का बलिदानों से भरा व्यक्तित्व हमारे नयनों के सम्मुख उभर आता है। हम नतमस्तक हो जाते हैं।

श्री अरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

योगिराज श्री अरविन्द

युगद्रष्टा क्रान्तिकारी और भविष्यस्रष्टा योगेश्वर श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त १८७२ ई० को कलकत्ता में हुआ। पिता डा० कृष्णधन घोष ने सात वर्ष की अवस्था में बालक अरविन्द को शिक्षा दीक्षा के लिए इंग्लैंड भेज दिया। वहाँ उन्होंने १४ वर्ष तक अनेक योरोपीय भाषाओं तथा विविध विषयों की उच्च शिक्षा प्राप्त की। १८९३ में युवा अरविन्द को गायकवाड़-नरेश बड़ौदा राज्य-सेवा में ले आये।

मातृभूमि पर जहाज से उतरते ही उनको एक विशाल शान्ति का अनुभव हुआ। बड़ौदे में उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं राजनैतिक अवस्था का गहरा अध्ययन किया। काशमीर-यात्रा में अनन्तता का अनुभव, नर्मदा के तट पर पर एक मन्दिर में काली के प्रकाश का साक्षात्कार, कुछ वर्षों बाद, मराठा योगी विष्णु भास्कर लेले के सान्निध्य में निर्विकल्प समाधि का आनन्द, उनकी आरम्भिक आध्यात्मिक प्राप्तियों में है।

१९०६ में वह कलकत्ता चले आये और राजनैतिक क्रान्तिकारी के रूप में शीघ्र ही भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के अग्रदूत हो गये। 'वन्दे-मातरम्' में प्रकाशित उनके लेख देश-प्रेम की आग उगलते थे। 'भिक्षां देहि' के स्थान पर उनका 'युद्धं देहि' का स्वर गूँज उठा। सरकार ने एक राजनैतिक हत्याकाण्ड को लेकर उन्हें १९०८ में अलीपुर जेल में डाल दिया। एक वर्ष के बन्दी जीवन के बाद अदालत ने उनको निर्दोष घोषित किया। कारावास में उनको सर्वत्र वासुदेव की अनुभूति हुई तथा अन्य गहन यौगिक अनुभव प्राप्त हुए।

विदेशी सरकार फिर भी उनके पीछे पड़ी रही। १९१० में आन्तरिक भागवत आदेश पाकर वह पाण्डिचेरी आ गये और सम्पूर्ण रूप से योग-साधना में लग गये। चार वर्ष बाद फ्रांस से श्री मां का आगमन हुआ। बाल्यपन से ही गहन आध्यात्मिक साधना एवं अनुभूतियों से समृद्ध रूप से सम्पन्न श्री माँ ने श्री

अरविन्द में एक महान योगी, दार्शनिक, सिद्ध व व्याख्याकार के दर्शन किए। श्री माँ ने श्री अरविन्द का योग-साहचर्य स्वीकारा। मिलकर उन्होंने अंगरेजी 'आर्य' मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। तप, साधना व अध्ययन से पूत श्री अरविन्द के योग और ज्ञान के समन्वय की इस पत्रिका में श्री अरविन्द की लेख-मालाएँ बाहर आने लगी। वेद, उपनिषद एवं गीता का आन्तरिक अर्थ प्रकाशित करने के अलावा उन्होंने अपने नव-आविष्कृत पूर्णयोग की व्याख्या भी की। इस भाँति उनके अनेक जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना हुई।

श्री अरविन्द के आध्यात्मिक पथ का अनुसरण करने के लिए अधिकाधिक लोग आने लगे। इस प्रकार श्री अरविन्द आश्रम की स्थापना हुई। 24 नवम्बर 1926 के दिन श्री अरविन्द को श्रीकृष्ण-चेतना की एक विशेष सिद्धि प्राप्त हुई। आश्रम के संचालन का पूर्ण दायित्व श्री मां को सौंपकर वह एकान्तवासी हुए। 5 दिसम्बर 1950 को उन्होंने देहत्याग किया। वह आज भी पृथ्वी के लिए सूक्ष्म रूप से कार्यरत हैं।